Volume-6, Issue-1, January - 2017 • ISSN No 2277 - 8160

IF : 3.62 | IC Value 80.26

Original Research Paper

Economics

lEifÙk dk miHkksx o fuf/k;k

Ikk\Q lj Mk- ch-,y- lBh | एम.फिल, पीएच.डी., डी.लिट्, जैनदर्शनाचार्य UNIVERSITY

d\yk"kpUn | RESERCH SCOLAR, JJT JHUNJHUNU

जब कोई भी देश अर्थ की दृष्टि से समृद्ध हो जाता है, तभी उसके जीवन में विलास और वैभव का प्रारम्भ होता है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से समीक्षित पुराणों के भारत के उपभोक्ताओं को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1. सामन्त वर्ग
2. कृषक वर्ग
3. सम्राट वर्ग
4. श्रेष्ठि वर्ग
5. जनसाधारण वर्ग

सामन्त, श्रेष्ठि और सम्राट ये तीनों वर्ग नगरीय सभ्यता के प्रतिनिधि थे। नगरीय जीवन आर्थिक समृद्धि का जीवन था। विलास और आराम दोनों को ही इस जीवन में स्थान प्राप्त था। कृषक एवं सामन्तवर्ग के व्यक्ति ग्राम्य सभ्यता के प्रतीक थे। नगरीय सभ्यता की दृष्टि से जीवन के दश प्रधान भोग माने गये थे –

(1) रत्न (2) देवियाँ (3) नगर (4) शय्या (5) आसन (6) सेना (7) नाट्यशाला (8) वर्त्तन (9) भोजन (10) वाहन।

आरामयुक्त तथा विलासितापूर्ण जीवन के लिए नगर निवास आवश्यक था। आर्थिक समृद्धि के साथ उक्त दश प्रकार के भोगों का सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के उपभोगों का वर्णन आता है – तात्कालिक उपभोग, उत्पादक उपभोग और स्थगित उपभोग। तात्कालिक उपभोग वह है जिससे वस्तु की उपयोगिता तत्काल समाप्त होकर आवश्यकता की पूर्ति उसी क्षण हो जाती है। उक्त दश उपभोगों में भोजन, वाहन एवं रमणियाँ तात्कालिक उपभोग के साधन है। उक्त तीनों उपभोग के साधनों की उपयोगिता धीरे–धीरे समाप्त होती जाती है।

उत्पादक उपभोग का तात्पर्य किसी वस्तु के उत्पादन कार्य में प्रयोग से है जैसे बीज, यन्त्र आदि। वर्तन, शय्या, आसन को हम अन्तिम उपभोग कह सकते हैं क्योंकि इन साधनों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं की पूर्ति होती है। स्थगित उपभोग का अर्थ है बचाकर भविष्य में उपभोग के लिए रखना जैसे रत्न, अन्न संचय एवं विभूति आदि। आलोचित पुराणों में आर्थिक समृद्धि का चित्रण पूर्णतया पाया जाता है।

i#"kkFkpr"V; vkj vFk

जैन पुराणों के उल्लेखानुसार पृथ्वी पर मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपभोग का अधिकार प्राप्त है, किन्तु राजाओं द्वारा सुरक्षित होने पर ही ये मनुष्यों को उपलब्ध होते हैं। यही विचार जैनेतर साहित्य में भी प्राप्त होता है। राजा वर्णाश्रम धर्म का परिपालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी चतुष्फलों की प्राप्ति में प्रजा की सहायता करें।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरूषार्थों में अर्थ पुरुषार्थ अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कौटिल्य ने अर्थ, धर्म और काम के आधार पर ही मानव जीवन को विभक्त किया है और इन तीनों में से उन्होंने अर्थ को प्रधानता दी, क्योंकि बिना अर्थ के किसी भी प्रकार की क्रिया संभव नहीं हो सकती थी। उनके अनुसार संसार में धन ही वस्तु है, धन के अधीन धर्म और काम है। मनुष्यों के व्यवहार या जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम ही अर्थ है। इस भूमि को प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों को निरूपण करने वाला शास्त्र ही अर्थशास्त्र कहलाता है।

/ke vkj vFk % मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, साध्य है। धर्म उसे प्राप्त करने के लिए साधन स्वरूप है। धर्म पुरुषार्थ का उत्तरार्द्ध मोक्ष पुरुषार्थ है। इस प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ की साधना में अर्थ और काम गौण हो जाते हैं। चारों पुरुषार्थों में अर्थ साध्य स्वरूप तो नहीं है, परन्तु आधारभूत एवं सहायक अवश्य है। धर्म पुरुषार्थ के पूर्वार्द्ध में जीवन की जो साधना की जाती है, उसमें अर्थ की संयमित साधना सम्मिलित है। धर्म की आराधना में अर्थ से जीवन की वे समस्त सुविधाएँ और सामग्री जुटाई जाती है, जिसकी आवश्यकता शेष तीनों पुरुषार्थों के लिए होती है।

dke vkj vFk % मोक्ष पुरुषार्थ साध्य रूप होने से तथा धर्म पुरुषार्थ सहायक रूप होने से अर्थ पुरुषार्थ कभी अनर्थ का कारण और काम पुरुषार्थ कभी अनाचार का कारण नहीं बन सका। यदि अर्थ और काम पर धार्मिक, नैतिक और सामाजिक नियन्त्रण नहीं हो तो परिवार और समाज के मूलाधार ही खिसक जाएंगें। अर्थ और काम पर यह नियन्त्रण जीवन, समाज और देश के लिए वरदान है।

ek{k vkj vFk % पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष पुरुषार्थ हेतु अर्थोपार्जन में न्याय नीति की शर्त से ही साधन शुद्धि की प्रबल प्रेरणा दी गई है। अर्थ पुरुषार्थ के आधारभूत स्थान से जीवन की सम्पूर्ण साधना में अर्थ की महत्ता सुनिश्चित होती है। अर्थ के साथ पुरुषार्थ शब्द कर्म, कौशल, कर्त्तव्य और श्रम की ओर संकेत है।

pkjk i#"kkFkk e vUr lEcU/k % पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में अर्थ प्रमुख पुरुषार्थ तो है ही साथ ही इस पुरुषार्थ ने धार्मिक क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। जिस अर्थ को धर्म के लिए सहायक माना गया, उस अर्थ की प्राप्ति के लिए धर्म को भी सहायक माना गया है। लोग आज भी अर्थ प्राप्ति के लिए धार्मिक क्रियाएँ जैसे तप, जाप, मन्त्र, अनुष्ठान आदि किया करते हैं। इस प्रकार अर्थ और धर्म अन्योन्याश्रित हो जाते हैं और काम और मोक्ष की साधना इन पर निर्भर हो जाती है। पौराणिक कथानकों के अनेक पात्र आत्म कल्याण के लिए धर्म पुरुषार्थ करते हैं और परिवार के भरण–पोषण के लिए अर्थोपार्जन के लिए पुरूषार्थ करते हैं। देश–देशान्तर की यात्राएँ भी करते हैं। सोमदेवसूरि के अनुसार अर्थ के बिना धर्म और काम सम्भव नहीं, इसलिए अर्थोपार्जन के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। उनका कहना है 'जो मनुष्य काम और अर्थ की उपेक्षा करके केवल धर्म की ही सतत् उपासना करता है, वह पके हुए खेत को छोड़कर जंगल को काटता है। सुखी और सन्तुलित जीवन के लिए मानव धार्मिकता के साथ–साथ धनोपार्जन करें और व्यय करें तथा अपने लौकिक सुख को कायम रखता हुआ लोकोत्तर सुख की साधना करें। चूंकि अर्थ से सारे प्रयोजन सिद्ध होते हैं इसलिये व्यक्ति को अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त धन की रक्षा तथा रक्षित धन की वृद्धि करनी चाहिये, जिससे वह धनवान हो सके।

जिसके पास धन है वही सुखी है, पण्डित है, यशस्वी है, महान् है, धर्म भी उसके अधीन है। अहिंसा के उपदेश वाले धर्म के पालन में भी धनवान ही समर्थ हो सकता है। अर्थ से ही सारे कार्य सम्भव होते हैं। धन होने से ही लोग आदर करते हैं। अल्प धन जानकर आत्मीय भी मुहँ मोड़ लेते हैं, पराओं का तो कहना ही क्या? धनहीन का कोई आदर नहीं करता है। चारों पुरूषार्थों में अर्थ की सामर्थ्यवान सत्ता और महत्ता निर्विवाद और असन्दिग्ध है। अर्थ का प्रभाव और अर्थ का अभाव दोनों ही ठीक नहीं है। अर्थ के प्रति एक सम्यक् दृष्टिकोण होना चाहिये। जैन संस्कृत पौराणिक साहित्य में उसी सम्यक् दृष्टिकोण का प्रतिपादन है।

यह निर्विवाद है कि जैन परम्परा में धनार्जन में न्याय नीति और अहिंसा का जो विवेक प्रदान किया गया है, धन के उपयोग में भी वैसे ही विवेक का निर्देश किया गया है। धन का आदर्श उपयोग, धनार्जन से भी कठिन कार्य है। सामान्यतः धन की तीन गतियाँ बताई गई है – दान, भोग, और नाश। इनमें दान और भोग धन के उपयोग की श्रेणियाँ हैं। जिस धन का उपयोग नहीं किया जाता है, उपयोगकर्त्ता की दृष्टि से उसकी परिणति नाश है।

जैन पुराणों में दान को श्रावक का आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। केवल किसी को कुछ दे देना ही दान नहीं है अपितु उसमें द्रव्य योग, काल और भाव का विचार भी होना चाहिये। औषध, शास्त्र, अभय और आहार ये चार प्रकार के दान बताए गए हैं। अर्थ को द्रवित रहना चाहिए अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहना चाहिए। जिस प्रकार प्रवाहमान नीर स्वच्छ तो होता ही है, वह देश देशान्तर को भी लाभान्वित करता है। उसके नैसर्गिक कल–कल ध्वनि से सम्पूर्ण प्रकृति पुलकित हो जाती है उसी प्रकार समाज में अर्थ की प्रवाह–शीलता का महत्त्व है। अर्थ के संविभाग ओर असंग्रह के उपदेश में व्यष्टि और समष्टि का समग्र हित सन्निहित है। जो लक्ष्मी पानी में उठने वाली तरंगों के समान चंचल है, दो–तीन दिन ठहरने वाली है उसका सदुपयोग यही है कि दयालु होकर योग्य पात्र को दान दिया जाय। ऐसा नहीं करके जो व्यक्ति केवल लक्ष्मी का संचय करता है, उसे जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट पात्रों में दान नहीं करता है, वह अपनी आत्म वंचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना व्यर्थ है। धन, साधनों और संसाधनों के उपयोग में सुपात्र दान को उत्कृष्ट दान बताया गया है।